अञ्चलगच्छीय आचार्यमेरुतुङ्ग एवं उनका जैनमेघदूतकाव्य

रविशंकर मिश्र

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में अनेक गच्छ प्रचलित हैं, जिनमें चौरासी गच्छों की मान्यता बहुत प्राचीन है।[1] पाश्चात्य विद्वान् डा० ब्हूलर ने भी चौरासी गच्छों की मान्यता को स्वीकार किया है—

About the middle of the tenth century there flourished a Jaina high priest named Uddyotana, with whose pupils the eighty four gachhas Originated. This number is still spoken of by the Jainas, but the lists that have been hitherto published are very discordant.[2]

परन्तु वर्तमान में खरतरगच्छ, तपागच्छ, अञ्चलगच्छ आदि गच्छ ही प्रमुख हैं। इन गच्छों में अञ्चलगच्छ का अपना इतिहास है। इस गच्छ ने न केवल जैन संघ के इतिहास को उज्ज्वल किया है, बल्कि अपनी बौद्धिक प्रखरता एवं ज्ञान-गाम्भीर्यता से भारतीय साहित्य को एक अनुपम देन दी है। इस गच्छ के इतिहास-सङ्कलन में सहायभूत होने वाली विपुल साधन-सामग्री यतस्ततः विनष्टप्राय ही है। मात्र इस गच्छ से सम्बन्धित पट्टावलियाँ एवं प्रशस्तियाँ ही इस गच्छ के इतिहास को उजागर करती हैं।

अञ्चलगच्छ के संस्थापक श्री आर्यरक्षितसूरि थे। इनका जन्म संवत् ११३६ में दन्ताणी ग्राम में हुआ था। इन्होंने कालीदेवी की उपासना की थी तथा ७० बोलों (मान्यताओं) का प्रतिपादन कर अपने समुदाय का नाम "विधिपक्ष" रखा था। संवत् १२१३ में इसी विधिपक्ष का दूसरा नाम पड़ा—'अञ्चलगच्छ"।[3] इस अञ्चलगच्छ की स्थापना में पूर्व की पट्टावली निम्नक्रमानुसार[4] प्रस्तुत की गई है—

(१) आर्य सुधर्मास्वामी (आद्य पट्टधर), (२) आर्य जम्बुस्वामी, (३) प्रभवस्वामी, (४) सय्यम्भवस्वामी, (५) यशोभद्रसूरि, (६) सम्भूतिविजय, (७) भद्रबाहुस्वामी, (८) स्थूलभद्रस्वामी, (९) आर्य महागिरि, (१०) आर्य सुहस्ती, (११) आर्य सुस्थित तथा आर्य सुप्रतिबुद्ध, (१२) इन्द्रदिन्नसूरि, (१३) आर्य दिन्नसूरि, (१४) सिंहगिरिसूरि, (१५) वज्रस्वामीसूरि, (१६) वज्रसेनसूरि, (१७) चन्द्रसूरि, (१८) सामन्तभद्रसूरि, (१९) वृद्धदेवसूरि, (२०) प्रद्योतनसूरि, (२१) मानदेवसूरि, (२२) मानतुंगसूरि, (२३) वीरसूरि, (२४) जयदेवसूरि, (२५) देवानन्दसूरि, (२६) विक्रमसूरि, (२७) नरसिंहसूरि, (२८) समुद्रसूरि, (२९) मानदेवसूरि, (३०) विबुधप्रभसूरि, (३१) जयानन्दसूरि, (३२) रविप्रभसूरि, (३३)

---

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म, पृ० ३०९।

२. J. G. Buhler : The Indian sect of Jainas, P. 77.

३. पं० कल्याणविजयगणि : श्रीपट्टावलीपरागसङ्ग्रह, पृ० २४१।

४. श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० ९-१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यशोभद्रसूरि, (३४) विमलचन्द्रसूरि, (३५) उद्योतनसूरि, (३६) सर्वदेवसूरि, (३७) पद्मदेवसूरि, (३८) उदयप्रभसूरि, (३९) प्रभानन्दसूरि, (४०) धर्मचन्द्रसूरि, (४१) सुविनयचन्द्रसूरि, (४२) गुणसमुद्रसूरि, (४३) विजयप्रभसूरि, (४४) नरचन्द्रसूरि, (४५) वीरचन्द्रसूरि, (४६) मुनितिलकसूरि, (४७) जयसिंहसूरि।

जयसिंहसूरि के पश्चात् आर्यरक्षितसूरि हुए। इन्हीं के द्वारा अञ्चलगच्छ की स्थापना हुई। इनके द्वारा स्थापित अञ्चलगच्छ की पट्टावली निम्नानुसार उपलब्ध होती है[1]—

४८. **आर्यरक्षितसूरि** : जन्म वि० सं० ११३६, दीक्षा सं० ११४२, गच्छस्थापना सं० ११५९, स्वर्गगमन सं० १२३६।

४९. **जयसिंहसूरि** : जन्म सं० ११७९, दीक्षा सं० ११९७, आचार्यपद सं० १२०२, स्वर्गगमन सं० १२५८।

५०. **धर्मघोषसूरि** : जन्म सं० १२०८, दीक्षा सं० १२१६, आचार्यपद सं० १२३४, स्वर्गगमन सं० १२६८।

५१. **महेन्द्रसिंहसूरि** : जन्म सं० १२२८, दीक्षा सं० १२३७, आचार्यपद सं० १२६३, स्वर्गगमन सं० १३०९।

५२. **सिंहप्रभसूरि** : जन्म सं० १२८३, दीक्षा सं० १२९१, आचार्यपद सं० १३०९, स्वर्गगमन सं० १३१३।

५३. **अजितसिंहसूरि** : जन्म सं० १२८३, दीक्षा सं० १२९१, आचार्यपद सं० १३१४, स्वर्गगमन १३३९।

५४. **देवेन्द्रसिंहसूरि** : जन्म सं० १२९९, दीक्षा सं० १३०६, आचार्यपद सं० १३२३, स्वर्गगमन सं० १३७१।

५५. **धर्मप्रभसूरि** : जन्म सं० १३३१, दीक्षा सं० १३४१, आचार्यपद सं० १३५९, स्वर्गगमन सं० १३९३।

५६. **सिंहतिलकसूरि** : जन्म सं० १३४५, दीक्षा सं० १३५२, आचार्यपद सं० १३७१, स्वर्गगमन सं० १३९५।

५७. **महेन्द्रप्रभसूरि** : जन्म सं० १३६३, दीक्षा सं० १३७५, आचार्यपद सं० १३९३, स्वर्गगमन सं० १४४४।

५८. **मेरुतुङ्गसूरि** : जन्म सं० १४०३, दीक्षा सं० १४१०, आचार्यपद सं० १४२६, स्वर्गगमन सं० १४७१।

५९. **जयकीर्तिसूरि** : जन्म सं० १४३३, दीक्षा सं० १४४४, आचार्यपद सं० १४६९, स्वर्गगमन सं० १५००।

६०. **जयकेसरीसूरि** : जन्म सं० १४७१, दीक्षा सं० १४७५, आचार्यपद सं० १४९४, स्वर्गगमन सं० १५४१।

६१. **सिद्धान्तसागरसूरि** : जन्म सं० १५०६, दीक्षा सं० १५१२, आचार्यपद सं० १५४१, स्वर्गगमन सं० १५६०।

---

१. श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० १०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२. **भावसागरसूरि** : जन्म सं० १५१६, दीक्षा सं० १५२०, आचार्यपद सं० १५६०, स्वर्ग-गमन सं० १५८३।

६३. **गुणनिधानसूरि** : जन्म सं० १५४८, दीक्षा सं० १५५७, आचार्यपद सं० १५८४, स्वर्ग-गमन सं० १६०२।

६४. **धर्ममूर्तिसूरि** : जन्म सं० १५८५, दीक्षा सं० १५९९, आचार्यपद सं० १६०२, स्वर्ग-गमन सं० १६७१।

६५. **कल्याणसागरसूरि** : जन्म सं० १६३३, दीक्षा सं० १६४२, आचार्यपद सं० १६४९, स्वर्गगमन सं० १७१८।

६६. **अमरसागरसूरि** : जन्म सं० १६६४, दीक्षा सं० १६७५, आचार्यपद सं० १६८४, स्वर्ग-गमन सं० १७६२।

६७. **विद्यासागरसूरि** : जन्म सं० १७४७, दीक्षा सं० १७५८, आचार्यपद सं० १७६२, स्वर्ग-गमन सं० १७९७।

६८. **उदयसागरसूरि** : जन्म सं० १७६३, दीक्षा सं० १७७७, आचार्यपद सं० १७९७, स्वर्ग-गमन सं० १८२६।

६९. **कीर्तिसागरसूरि** : जन्म सं० १७९६, दीक्षा सं० १८०९, आचार्यपद सं० १८२६, स्वर्ग-गमन सं० १८४३।

७०. **पुण्यसागरसूरि** : जन्म सं० १८१७, दीक्षा सं० १८३३, आचार्यपद सं० १८४३, स्वर्ग-गमन सं० १८७०।

७१. **राजेन्द्रसागरसूरि** : इनके जन्मादि के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। मात्र इतना ही कि इनका जन्म सूरत में तथा स्वर्गगमन सं० १८९२ में माण्डवी में हुआ।

७२. **मुक्तिसागरसूरि** : जन्म सं० १८५७, दीक्षा सं० १८६७, आचार्यपद सं० १८९२, स्वर्ग-गमन सं० १९१३।

७३. **रत्नसागरसूरि** : जन्म सं० १८९२, दीक्षा सं० १९०५, आचार्यपद सं० १९१४, स्वर्ग-गमन सं० १९२८।

७४. **विवेकसागरसूरि** : जन्म सं० १९११, दीक्षा एवं आचार्यपद सं० १९२८, स्वर्गगमन सं० १९४८।

७५. **जिनेन्द्रसागरसूरि** : जन्म सं० १९२९, दीक्षा सं० १९३६, आचार्यपद सं० १९४८, स्वर्गगमन सं० २००४।

७६. **गौतमसागसूरि**[1] : जन्म सं० १९२०, दीक्षा सं० १९४०, स्वर्गगमन सं० २००९।

७७. **दानसागरसूरि**[2] : जन्म सं० १९४४, दीक्षा सं० १९६६, आचार्यपद सं० २०१२, स्वर्गगमन सं २०१७।

७८. **नेमसागरसूरि**[3] : दीक्षा सं० १९८०, स्वर्गगमन सं० २०२२।

७९. **गुणसागरसूरि**[4] : जन्म सं० १९६९, दीक्षा सं० १९९३, आचार्यपद सं० २०१२।

---

१. श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० ५९४। २. वही, पृ० ६०१।
३. वही, पृ० ६०१। ४. वही, पृ० ६०५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान में अञ्चलगच्छ की परम्परा विद्यमान है।

अञ्चलगच्छ के संक्षिप्त परिचय के पश्चात् हम अपने विवेच्य-बिन्दु की ओर अभिमुख होते हैं। अञ्चलगच्छ की इस विस्तृत पट्टावली में आचार्य मेरुतुङ्ग का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन-संस्कृत-साहित्य के निर्माण में आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ने पर्याप्त योगदान दिया है। वैसे जैन साहित्य में मेरुतुङ्ग नामक तीन आचार्य हुए हैं, परन्तु काव्यप्रणेता के रूप में दो मेरुतुङ्ग ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम आचार्य मेरुतुङ्गसूरि, जो चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे, प्रायः नगेन्द्रगच्छ के आचार्य थे। इन्होंने प्रबन्धचिन्तामणि नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ वि० सं० १३६१ में पूर्ण किया था।[1] द्वितीय आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ही हमारे विवेच्य आचार्य हैं, जो पन्द्रहवीं शताब्दी के तथा अञ्चलगच्छीय आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे।[2]

अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्गसूरि जैन-साहित्य-क्षितिज के अत्यन्त प्रभावक आचार्य हुए हैं। इनके जीवन-परिचय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री यतस्ततः अभी तक बिखरी हुई है। अतः वास्तविक परिचय न प्राप्त हो सकने के कारण तथा आचार्य द्वारा स्वयं अपने प्रति कुछ भी न लिखने के कारण, आचार्य मेरुतुङ्गसूरि की जीवन-रेखा को रेखांकित कर पाना असाध्य तो नहीं, पर दुःसाध्य अवश्यमेव है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यहाँ इनका जीवन-चरित दिया जा रहा है—

जन्मस्थान एवं काल : मरुभूमि मारवाड प्रदेश के अन्तर्गत नाणी नामक एक ग्राम में वहोरा वाचारगर एवं उनके भ्राता वहोरा विजयसिंह निवास करते थे। उनमें वहोरा विजयसिंह के वहोरा वयरसिंह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त विचक्षण बुद्धिवाला एवं धार्मिक था। नालदेवी[3] नामक अत्यन्त शीलवती कन्या से उसका पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। किञ्चित् कालानन्तर एकदा नालदेवी की महनीय कुक्षि में एक अतीव पुण्यशाली जीव देवलोक से आकर अवतीर्ण हुआ। फलतः उस प्रभावी जीव के प्रभाव से नालदेवी ने स्वप्न में देखा कि सहस्रकिरणपुञ्ज सहित रवि मेरे मुख में प्रविष्ट हो रहा है। तभी चक्रेश्वरी देवी ने तत्काल आकर इस महास्वप्न के प्रभावी फल को नालदेवी से बताया कि तुम्हारी कुक्षि से ज्ञानकिरणयुक्त रवि की भाँति महाप्रतापी, तेजस्वी एवं मुक्तिमार्ग-प्रकाशक एक पुत्र जन्म-ग्रहण करेगा, जो अपरिग्रहभाव से संयम-मार्ग का अनुगमन करता हुआ एक युगप्रधान-योगीश्वर होगा। चक्रेश्वरीदेवी के इन वचनों का ध्यानपूर्वक श्रवणकर एवं उसको आदर-सम्मान देती हुई, नालदेवी तब से धर्मध्यान में अत्यधिक अनुरक्त हो, अपने गर्भस्थ शिशु का यथाविधि पालन करने लगीं।

गर्भस्थ शिशु शनैः-शनैः वृद्धि प्राप्त करता रहा एवं वि० सं० १४०३ में उसने माता नालदेवी के गर्भ से जन्म-ग्रहण किया। वहोरा वयरसिंह के कुल-परिवार में हर्षोल्लासपूर्वक खुशी की शहनाईयाँ बज उठीं। हर्षपूर्ण उत्सव के साथ पुत्र का नाम वस्तिगकुमार[4] रखा गया। शिशु वस्तिग चन्द्र की

---

१. त्रयोदशस्वब्दशतेषु चैकषष्ट्यधिकेषु क्रमतो गतेषु।
वैशाखमासस्य च पूर्णिमायां ग्रन्थः समाप्तिङ्गमितो मितोऽयम् ॥ ५ ॥
—आचार्य मेरुतुङ्गसूरि : प्रबन्धचिन्तामणि, ग्रन्थकारप्रशस्ति।

२. (क) श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० १९९।
(ख) आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, प्रस्तावना, पृ० १७।

३. पट्टावली में नाम नाहुणदेवी है, परन्तु रास व अन्यत्र नालदेवी ही नाम वर्णित है।

४. व्याख्यानपद्धति में पुत्र का नाम वस्तो है, गच्छ की गुर्जर पट्टावली में वस्तपाल नाम दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाँति दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा और उसके जीवन में समस्त सद्गुण निवास करने हेतु प्रविष्ट होने लगे।

दीक्षा : शिशु वस्तिग ने अभी शैशव की किलकारियाँ भरते हुए, बाल्यावस्था की दहलीज पर अपने पग रखे ही थे कि उसी बीच नाणी ग्राम में अञ्चलगच्छीय आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि का शुभागमन हुआ। आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि के सारगर्भित मुक्तिप्रदायी उपदेशों के श्रवण से अतिमुक्तकुमार की तरह सांसारिक सुखोपभोगों के प्रति आसक्तिरहित होकर बालक वस्तिग ने मात्र सात वर्ष की अल्पवय में ही माता-पिता की आज्ञा प्राप्तकर, वि० सं० १४१० में आचार्य श्रीमहेन्द्रप्रभसूरि से दीक्षा ग्रहण कर ली। इस दीक्षा-महोत्सव में वस्तिगकुमार के माता-पिता ने प्रचुर द्रव्यादि का दान एवं उत्सव में अपार धनराशि का व्यय किया।

इसी दीक्षा-महोत्सव पर ही आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि ने इस नवदीक्षित मुनिकुमार का नाम "मेरुतुङ्ग" रखा।

'सूरि' पद से अलङ्करण : एक तो बाल्यावस्था, दूसरे मुनि-जीवन—दोनों के एक साथ संयोग के कारण मुनि मेरुतुङ्ग का विद्याध्ययन सुचारु रूप से चलता रहा। इस बालमुनि को एक के पीछे एक कर समस्त सिद्धियाँ स्वयमेव प्राप्त होती गयीं। आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि के सान्निध्य में तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार मुनि मेरुतुङ्ग, अपनी बुद्धि-विचक्षणता द्वारा संस्कृत, प्राकृत तथा इनसे सम्बद्ध विविध विषयों के पारङ्गत विद्वान् बन गये। कालक्रम से उनके चरित्र, ज्ञान एवं क्रियाओं का पूर्णतया विकास होता गया और वे शुद्ध-संयम का पालन करते हुए अपनी अमृतसदृश कल्याणमयी वाणी से सदुपदेश व प्रवचन आदि भी देने लगे। इस प्रकार अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न मुनि मेरुतुङ्ग को—आचार्य पद के हेतु सर्वथा योग्य जानकर—आचार्य श्रीमहेन्द्रप्रभसूरिजी ने संवत् १४२६ में पाटण नामक स्थान में "सूरि" पद से समलङ्कृत किया।

इस माङ्गलिक अवसर पर सङ्घपति नरपाल नामक श्रेष्ठी ने एक भव्य-महोत्सव आयोजन कर विविध दानादि दिये। तब से मुनि श्रीमेरुतुङ्गसूरि की ख्याति बहुत ही बढ़ गयी। वे मन्त्रप्रभावक बन गये एवं उन्होंने अष्टाङ्गयोग तथा मन्त्राम्नाय आदि में पूर्ण महारत प्राप्त कर ली। वे देश-विदेश में यतस्ततः विचरण करते हुए, अपने सदुपदेशों व प्रवचनों द्वारा भव्यजीवों एवं नरेन्द्रादिकों को प्रतिबोध देने लगे।

अन्य उपाधियाँ : आचार्य मेरुतुङ्गसूरि से सम्बधित ऐसे अनेकानेक प्रभावी अवदातों (गुणों) का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिनके द्वारा उन्होंने अनेकानेक नृपतियों को प्रतिबोधित कर जैनधर्म में दीक्षित किया।[1] इन्हीं गुणों के कारण आचार्यश्री को "मन्त्रप्रभावक", "महिमानिधि" आदि उपाधियों से भी सम्बोधित किया गया है।

शिष्य-परिवार : आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि का शिष्य-परिवार भी अतिविशाल था। उन्होंने छः मुनियों को आचार्य, चार मुनियों को उपाध्याय तथा एक साध्वी को महत्तरा के पद पर स्थापित

---

१. दृष्टव्य—लेखक का पी-एच० डी० शोधप्रबन्ध : महाकवि कालिदासकृत मेघदूत और जैनकवि मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूत का साहित्यिक अध्ययन, पृ० ५९-६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया।[1] इनमें श्रीजयकीर्तिसूरि मुख्य पट्टधर थे। इसके अतिरिक्त रत्नशेखरसूरि, माणिक्यनन्दनसूरि माणिक्यशेखरसूरि, महीतिलकसूरि आदि अनेक विद्वान् उपाध्याय व मुनि थे।[2] आचार्यश्री के सङ्घ में विशाल साध्वी-परिवार भी था। साध्वी श्रीमहिमश्रीजी को आचार्यश्री ने "महत्तरा" पद पर स्थापित किया था।

"चक्रेश्वरीभगवती विहित प्रसादाः श्रीमेरुतुङ्गगुरवो नरदेववंद्याः" ॥[3]

यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि चक्रेश्वरीदेवी के विशिष्टकृपापात्र थे।

स्वर्गगमन : इस प्रकार आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि अनेकानेक ग्रामों एवं नगरों का पाद-विहार करते हुए एवं जन-जन का उपकार करते हुए, अन्त में वि० सं० १४७१ की मार्गशीर्ष पूर्णिमा दिन सोमवार को अपराह्न उत्तराध्ययनसूत्र का श्रवण करते-करते समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हो गये।

साहित्य-क्षेत्र में अवदान : आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि का साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके द्वारा रचित साहित्य, जैनसंस्कृति के लिए तो प्रभावी सिद्ध ही हुआ, साथ ही समग्र भारतीय साहित्य में भी अपना मूलभूत स्थान रखता है। आचार्यश्री के ग्रन्थों की संख्या के विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ही सम्मतियाँ दी हैं। डा० रामकुमार आचार्य[4] एवं डा० नेमिचन्द्रशास्त्री[5] ने आचार्यश्री के आठ ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है। श्री भंवरलाल नाहटा ने आचार्यश्री द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या बारह दी है।[6] मुनि कलाप्रभसागरजी ने आचार्यश्री के ग्रन्थों की संख्या उन्नीस कही है[7], परन्तु श्रीपार्श्व ने आचार्यश्री के ग्रन्थों की संख्या छत्तीस दी है। उन्होंने "अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन" नामक अपने ग्रन्थ में आचार्यश्री के छत्तीस ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उन्हें निम्न क्रम में प्रस्तुत किया है[8]—

१. कामदेवचरित्र, २. सम्भवनाथचरित्र, ३. कातन्त्रबालावबोधवृत्ति, ४. आख्यातवृत्ति टिप्पण, ५. जैनमेघदूतम्, ६. षड्दर्शनसमुच्चय, ७. धातुपारायण, ८. बालावबोधव्याकरण, ९. रसाध्यायटीका, १०. सप्ततिभाष्यटीका, ११. लघुशतपदी, १२. शतपदीसारोद्धार, १३. जेसाल-प्रबन्ध, १४. उपदेशचिन्तामणिवृत्ति, १५. नाभाकनृपकथा, १६. सूरिमन्त्रकल्प, १७. सूरिमन्त्रसा-रोद्धार, १८. जुरावल्लीपार्श्वनाथस्तव, १९. स्तम्भकपार्श्वनाथप्रबन्ध, २०. नाभिवंश महाकाव्य, १२. यदुवंशसम्भवमहाकाव्य, २२. नेमिदूतमहाकाव्य, २३. कृद्वृत्ति, २४. चतुष्कवृत्ति, २५. ऋषिमण्डलस्तव, २६. पट्टावली, २७. भावकर्म प्रक्रिया, २८. शतकभाष्य, २९. नमुत्थणंटीका, ३०. सुश्राद्धकथा, ३१. लक्षणशास्त्र, ३२. राजमती-नेमिसम्बन्ध, ३३ वारिविचार, ३४. पद्मा-वतीकल्प, ३५. अङ्गविद्योद्धार, ३६. कल्पसूत्रवृत्ति।

---

१. श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० २३२।
२. वही, पृ० २३१। ३. वही, पृ० २०९।
४. डा० रामकुमार आचार्य : संस्कृत के सन्देश-काव्य, पृ० १९४-१९५।
५. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ४८३।
६. मुनि कलाप्रभसागरजी द्वारा सम्पादित : श्री आर्यकल्याण गौतम स्मृति ग्रन्थ, पृ० २६।
७. वही, पृ० ८८-८९।
८. श्री पार्श्व : अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (गुजराती), पृ० २२०-२२३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूत

आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि की उपर्युक्त रचनाओं में सर्वप्रमुख व सर्वसशक्त ग्रन्थ है—जैनमेघदूत। यहाँ प्रस्तुत है, इसी ग्रन्थ का संक्षिप्त कथ्यात्मक-विश्लेषण। आचार्यश्री ने जैनमेघदूतकाव्य की यद्यपि स्वतन्त्र रूप से रचना की है, फिर भी यह काव्य विश्व-विश्रुत कालिदासीय मेघदूत से अनुप्रेरित है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है। जैन आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र[1] में वर्णित रथनेमि और राजीमती का प्रसङ्ग इस दूतकाव्य की कथा का आदिस्रोत प्रतीत होता है। सम्पूर्ण काव्य चार सर्गों में विभक्त है। काव्य के प्रथम सर्ग में ५०, द्वितीय सर्ग में ४९, तृतीय सर्ग में ५५ और चतुर्थ सर्ग में ४२ श्लोक हैं, जो मन्दाक्रान्ता वृत्त में निबद्ध हैं।

काव्य-नायिका राजीमती मेघ को दूत बनाकर काव्यनायक श्रीनेमि के पास भेजती है, जिसे उसने पति स्वीकार कर लिया है। इसी कारण इस काव्य का नाम मेघदूत हुआ है। परन्तु जैनधर्म के बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ के जीवनचरित पर आधारित होने के कारण एवं एक जैन विद्वान् द्वारा रचित होने के कारण इस काव्य को "जैनमेघदूत" कहा गया है।

जैनमेघदूत की कथावस्तु जैन धर्म के बाईसवें तीर्थङ्कर, करुणा के जीवन्त प्रतीक भगवान् श्रीनेमिनाथ के जीवन-चरित से सम्बन्धित है। महाभारत काल में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इन्होंने यदुवंश में जन्म-ग्रहणकर अपनी करुणा की परम-पुनीत धारा द्वारा सृष्टि के कण-कण को अभिसिञ्चित किया। श्रीनेमि अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ तनय श्रीसमुद्रविजय के पुत्र एवं राजनीति-धुरन्धर भगवान् श्रीकृष्ण के चचेरे भ्राता थे। जहाँ योगपुरुष श्रीकृष्ण ने समग्र जनमानस को राजनीति की शिक्षा दी, वहाँ करुणा-सिन्धु श्रीनेमि ने प्राणिमात्र पर करुणा की शीतल-रश्मियों की वर्षा की।

समुद्रविजय ने अपने पुत्र नेमि का—जो सौन्दर्य एवं पौरुष के अजेय स्वामी थे—विवाह महाराज उग्रसेन की रूपसी एवं विदुषी पुत्री राजीमती (राजुल) से करना निश्चित किया। वैभव-प्रदर्शन के उस युग में महाराज समुद्रविजय ने अनेक बारातियों को लेकर पुत्र नेमिनाथ के विवाहार्थ उग्रसेन की नगरी की ओर प्रस्थान किया। बारात जब वधू के नगर 'गिरिनगर' पहुँची, तब वहाँ पर बँधे पशुओं की करुण-चीत्कार ने श्रीनेमि की जिज्ञासा को कई गुना बढ़ा दिया। अत्यन्त उत्सुकतावश जब श्रीनेमि ने पता लगाया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये सारे पशु बारात के भोजनार्थ लाये गये हैं। इन सभी पशुओं का वध कर इनके आमिष (मांस) से बारातियों के निमित्त विविध भाँति के व्यञ्जन बनाये जायेंगे। ऐसा ज्ञात होते ही श्रीनेमि के प्राण अत्यधिक मानस-उद्वेलन के कारण काँप उठे और उनकी भावना करुणा की अजस्रधारा में परिवर्तित हो प्रवाहित हो उठी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे करुणा-सिन्धु में अचानक प्रचण्ड ज्वार प्रादुर्भूत हो उठा हो। उनके करुणापूरित अन्तर्मानस में अनेकानेक प्रश्न आलोडित होने लगे कि जिस विवाह में अपने भोजन के लिए निरीह पशुओं की बलि दी जाती है, फिर भला उसकी अमङ्गलता में सन्देह कैसा? इसका निदान यह, उन्होंने निश्चय कर लिया कि ऐसे सांसारिक-बन्धन में बँधने की अपेक्षा क्यों न इस निष्करुण-संसार का त्यागकर सर्वश्रेयस्कर मोक्षपद को प्राप्त किया जाये। इस विचार के साथ ही श्रीनेमि इस दुःखमय संसार का त्यागकर तपस्या के सङ्कल्प के साथ वन-कानन की ओर मुड़ गये।

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २२वाँ अध्ययन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इधर कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उस समय हल्दी-चढ़ी, मेंहदी-रची, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं विवाह के हेतु प्रस्तुत वधू के रूप और विवाह की इस अकल्पनीय असफलता ने राजीमती के हृदय-सिन्धु में हाहाकार के कितने चक्रवातों को एक साथ उत्पन्न किया होगा? इसके पूर्व में अपने प्रिय की प्राप्ति के प्रति कितनी सुकोमल-कुमारी-कल्पनाएँ उसने अपने आन्तर-प्रदेश में संजो रखी होंगी? किन्तु अकस्मात् यह क्या? वधू का घूँघट-पट उठने से पूर्व ही यह निर्मम पटाक्षेप कैसा?

परन्तु भारतीय नारी भी अपने आदर्श के प्रति अडिग है, वह जीवन में अपने पति का चयन एक ही बार करती है। इसी आदर्श के अनुरूप राजीमती भी पति-स्वरूप श्रीनेमि को अपने मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करती है। श्रीनेमि के विवाह-महोत्सव त्यागकर वन चले जाने की सूचना ने गिरिनगर में तो मानो वज्रपात ही कर दिया था। नगर के सभी माङ्गलिक-अनुष्ठान समाप्त कर दिये गये थे। इधर इस दुःखद समाचार से राजीमती एवं सखियों के करुण-क्रन्दन की चीत्कारें पाषाणहृदयों को भी तरलीभूत कर रही थीं।

काव्य की कथावस्तु को सहजतया हृद्गत करने के लिए और आवश्यक सा प्रतीत होने के कारण इतनी पूर्वकथा दी गयी है। आचार्य मेरुतुङ्ग ने प्रस्तुत पूर्वकथा के पश्चात् के अत्यन्त कारुणिक कथास्थल से अपने काव्य को प्रारम्भ कर पुनः श्रीनेमि के जन्म से विवाह-त्याग तक की कथा को अपना विषय बनाया है, जो सर्ग-क्रम से संक्षेपतः प्रस्तुत है—

प्रथम सर्ग कथा :

काव्य के प्रथम सर्ग में श्रीनेमि की बालक्रीडा तथा पराक्रमलीला वर्णित है। कवि ने काव्य के प्रारम्भ में श्रीनेमि के विवाह-महोत्सव का त्यागकर चिदानन्द सुख-प्राप्ति-हेतु रैवतक पर्वत पर चले जाने का वर्णन किया है।[१] श्रीनेमि द्वारा-विवाह-महोत्सव त्यागकर रैवतक पर चले जाने की सूचना से अति क्षुभित एवं कामजित् श्रीनेमि की भावी पत्नी राजीमती को कामदेव ने, यह जानकर कि यह हमारे शत्रु श्रीनेमि की भक्त है, अत्यन्त पीड़ित किया। जिस कारण प्रियविरहिता भोजकन्या (राजीमती) मूर्च्छित हो गयी।[२] राजीमती की सखियाँ अपने शोक गद्-गद् वचनों एवं लोकप्रसिद्ध चन्दन-ज़लार्द्र-वस्त्रादि-प्रभृत शीतोपचार द्वारा उसकी (राजीमती की) चेतना वापस लाती हैं। सचेत होते ही राजीमती हृदय में तीव्रोत्कण्ठा उद्भूत करने वाले मेघ को अपने समक्ष देखकर सोचती है कि उन भगवान् श्रीनेमि ने अपने में आसक्त तथा तुच्छ मुझको किस कारण सर्प की केंचुली की भाँति छोड़ दिया है।[३] इन विचारों में उलझती हुई, नवीन मेघों से सिक्त भूमि की तरह निःश्वासों को छोड़ती हुई तथा मदयुक्त मदन के आवेश के कारण युक्तायुक्त का विचार न करती हुई राजीमती, जिस प्रकार मेघमाला प्रभूत जलवृष्टि करती है, उसी प्रकार अश्रुधारावृष्टि करती हुई, दुःख से अतिदीन होकर उक्त प्रकार ध्यान कर मधुर वाणी में मेघ का सर्वप्रथम स्वागत करती है,[४] फिर उसका गुणगान करती है।[५]

---

१. आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, श्लोक १।१।
२. वही, १।२।
३. वही, १।७।
४. वही, १।१०।
५. वही, १।११-१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् वह मेघ से श्रीनेमि के चरित्र का विस्तृत वर्णन करती है, जिसके अन्तर्गत वह श्रीनेमि की बालसुलभ क्रीडाओं एवं पराक्रम-लीलाओं का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करती है।

द्वितीय सर्ग कथा :

द्वितीय सर्ग में वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं का वर्णन किया गया है, जिसमें श्रीनेमि की विविध भाँति की वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु की क्रीडाओं का वर्णन हुआ है। वसन्तागमन से वन-उपवनों एवं तडाग-पर्वतों की शोभा अत्यन्त रमणीय व मनोहारी हो गयी थी।[1] इस प्रकार वसन्त-वर्णन के पश्चात् राजीमती कथा-प्रसङ्ग को पुनः आगे बढ़ाती हुई, श्रीनेमि एवं श्रीकृष्ण की वसन्तक्रीडा का वर्णन करती है।[2]

तदनन्तर राजीमती मेघ से श्रीनेमि के साथ श्रीकृष्ण की पत्नियों की वसन्त-क्रीडा का वर्णन करती है।[3] परन्तु वह यह वर्णन कर ही रही थी कि तभी पुष्पित पारिजात से सुशोभित श्रीनेमि के[4] मनोहारी स्वरूप का स्मरण करती हुई पुनः मूर्च्छित हो गयी। उसकी सखियों ने चन्दनयुक्त-जलधारा से उसे किसी प्रकार सचेत किया।[5] सचेत होने पर राजीमती अपनी अधूरी कथा को पुनः प्रारम्भ करती हुई, श्रीनेमि व श्रीकृष्ण की वसन्तक्रीडा के पश्चात् ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन करती है, जो कि मानो स्वामि-सेवाशील भृत्य की भाँति अपने फल का उपहार देने के लिए वहाँ आ पहुँचा था।[6] ग्रीष्म ऋतु-वर्णन के[7] पश्चात् राजीमती श्रीकृष्ण एवं उनकी पत्नियों के साथ श्रीनेमि की लीलोपवन में जल-केलि का वर्णन प्रस्तुत करती है।[8]

तृतीय सर्ग कथा :

तृतीय सर्ग में श्रीनेमि के विवाह-महोत्सव एवं गृहत्याग का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम राजीमती मेघ से, लीलोपवन में जल-केलि कर निकले श्रीनेमि की अप्रतिम शोभा का वर्णन करती है।[9] जलार्द्र-वस्त्रों का त्यागकर रुक्मिणी द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठने के पश्चात् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ, श्रीकृष्ण स्वयं एवं बलदेव आदि सभी श्रीनेमि को पाणिग्रहण हेतु बहुत समझाते हैं।[10] अपने ज्येष्ठ, आदरणीय जनों के वचनों का तिरस्कार व निरादर न करते हुए श्रीनेमि उन सभी अग्रजों की आज्ञा को शिरोधार्य कर लेते हैं।[11] तब श्रीकृष्ण सहर्ष महाराज उग्रसेन से राजीमती को श्रीनेमि के साथ पाणिग्रहण हेतु माँगते हैं।[12]

श्रीनेमि के विवाह का सुसमाचार ज्ञात होने पर श्रीसमुद्र एवं शिवा अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। पूरे नगर में विवाह-सम्बन्धी तैयारियाँ होने लगीं। विवाह-मण्डप नानाभाँति सजाया गया। दिन-रात मधुर वाद्य-यन्त्र एवं यदुस्त्रियों के अविश्रान्त स्वर गुञ्जरित हो उठे।[13] वर-वधू दोनों ही पक्षों

---

१. आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, श्लोक २।२-११। २. वही, २।१२-१७।
३. वही, २।१८-२२। ४. वही, २।२४।
५. वही, २।२५। ६. वही, २।२९।
७. वही, २।३०-३५। ८. वही, २।३६-४९।
९. वही, ३।१-२। १०. वही, ३।३-२०।
११. वही, ३।२१। १२. वही, ३।२३।
१३. वही, ३।२४-२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पधारे अतिथियों का यथाविधि स्वागत-सत्कार हो रहा था। तत्पश्चात् श्रीनेमि मतवाले राजवाह्य (वह राजकीय हाथी, जिस पर राजा विशेष अवसर पर आरूढ़ होता है) पर आरूढ़ होकर अपने सभी सम्बन्धी बन्धु-परिजन के साथ विवाह हेतु चल पड़े। विवाह-हेतु सुसज्जित श्रीनेमि की शोभा देखने हेतु पुरवासी अत्यन्त व्यग्र से थे।[1]

इस प्रकार विवाह-हेतु आ रहे श्रीनेमि का वर्णन करती हुई राजीमती मेघ से आगे कहती है कि नान्दीरव को सुनते ही पाणिग्रहण योग्य वेष धारण की हुई मैं, उन श्रीनेमि को देखने के लिए अति व्याकुल हो उठी। तभी सखियों के—'पेञ्जूषेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्सूत्सुकायामायान्त्यस्मै सखि! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम्?' (कर्णों के अपने विषय-सख (शब्द) को प्राप्त कर लेने पर अपने विषयसुख (दर्शन) के लिए उत्सुक होनेवाली आँखों को सुख देना क्या उचित नहीं है?)—इस वचन का बहुमान करती हुई मैं गवाक्ष पर चढ़ गयी।[2] उन आयुष्मान् के दर्शन होते ही मुझमें मोह का इतना महासमुद्र उमड़ा कि उस समुद्र की तरङ्गमाला से चञ्चलचित्तवाली तथा जड़ीभूत सी होकर मैं क्षण भर—"मैं कौन हूँ? वह कौन है? मैं क्या कर रही हूँ?" आदि कुछ भी न जान सकी।[3] अभी राजीमती इसी उहापोह में थी कि तभी उसके दाहिने नेत्र ने फड़क कर भाग्याभाव के कारण उसके मनोरथरूपी कमलसमूहों को सङ्कुचित बना दिया।[4] इस घटना से घबरायी उसकी सखियाँ, उसे जब तक समझा सकें, तब तक भगवान् श्रीनेमि ने पशुओं के करुण-आर्तनाद को सुन लिया।[5] महावत से पूछने पर प्रभु को ज्ञात हुआ कि इन पशुओं के आमिष से विवाह-भोज का शोभा-सम्भार बढ़ाया जायेगा और तब महावत ने—यह निश्चय कर कि इन निरीह पशुओं को छुड़ाकर मैं दीक्षा प्राप्त कर लूँगा—बन्धमोक्षसमर्थ प्रभु को उस पशु-समूह के पास पहुँचा भी दिया।[6] श्रीनेमि ने दीनता से ऊपर देखते हुए एवं मजबूत बँधे हुए उन नभचर, पुरचर एवं वनचर प्राणियों को छुड़वा दिया और अपने हाथी को घर के सामने ले आये।[7]

वाष्पपूरित नेत्रों से देखते हुए श्रीनेमि के माता-पिता, श्रीकृष्ण आदि चिरभिलषित महोत्सव से निवृत्त श्रीनेमि से इस त्याग का कारण पूछने लगे।[8] भूरि-भूरि आग्रह करने पर श्रीनेमि ने सभी को यह कहकर निवारित किया कि "इस तपस्या (दीक्षा) के बिना कोई भी स्त्री निश्चित ही बाधाओं को दूर नहीं सकती, जिसका फल सदैव सुखकारी हो। सज्जनों का वही कार्य श्लाघ्य होता है। मैं कर्मपाश में बँधे हुए प्राणियों को इन्हीं पशुओं के समान ही मुक्त करूँगा।"[9] यह ज्ञात होते ही कि "श्रीनेमि व्रत ही ग्रहण करेंगे" यादवगण पृथ्वी-आकाश को भी रुलाते हुए रोने लगे।[10] यादवगण अभी रो ही रहे थे कि श्रीनेमि ने डिण्डिमघोष के साथ अपने भवन पहुँच कर वार्षिक-दान प्रारम्भ कर दिया।[11]

राजीमती मेघ से आगे कहती है कि अपने प्राणेश्वर के विवाह-भूमि से वापस लौट जाने के समाचार से उत्पीडित मैं वल्लरी की भाँति गिर पड़ी और उस समय उत्पन्न दुःखरूपी ज्वार-भार-

---

१. आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, श्लोक ३।३५। २. वही, ३।३७।
३. वही, ३।३९। ४. वही, ३।४०।
५. वही, ३।४१। ६. वही, ३।४३।
७. वही, ३।४४। ८. वही, २।४५-४७।
९. वही, ३।४८। १०. वही, ३।४९। ११. वही, ३।५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली मैंने मूर्च्छा-समुद्र में डूबकर सुख सा अनुभूत किया। यह कहती हुई वह मेघ से यह भी कहती है कि मूर्च्छा-समुद्र में डूबने से अत्यधिक कम्पनयुक्त कोई ताप ही शायद मुझे उत्पन्न हुआ है, जिस कारण मैं ऐसा अनर्गल-प्रलाप कर रही हूँ।[1] अभी वह फिर आगे कुछ कहती कि इसके पूर्व ही उसी समय सखियों की यह वाणी—"हे सखि! यदि वह अग्नि तथा पूज्यजनों के समक्ष विवाह करके फिर तुम्हें छोड़ते, तब तो नाव को समुद्र में छोड़कर डुबा ही देते, अभी तो अधिक गुणवान् कोई अन्य राजपुत्र तुम्हारा विवाह कर ही लेगा"—उसे जले पर नमक के समान लगी।[2] परन्तु भारतीय नारी के एक-पतित्व के आदर्श का पालन करने वाली राजीमती ने योगिनी की भाँति उन प्रभु के ध्यान में ही सारा जीवन काट डालने की अपनी उन सखियों के समक्ष ही प्रतिज्ञा कर ली।[3]

वह मेघ से आगे कहती है कि यद्यपि अखिल विश्वपूज्य मेरे पति वे श्रीनेमि इस विवाहोत्सव को त्यागकर उसी भाँति इसे असमाप्त छोड़कर चले गये हैं, जैसे तुम धारावृष्टि को छोड़कर चले जाते हो, परन्तु फिर भी मैं गृहस्थावस्था तक उनकी उसी प्रकार अपने हृदय में आशा लगाये रहूँगी, जैसे पुनः वर्षा नक्षत्र आने तक प्रजा तुम्हारी आशा लगाये रहती है।[4]

चतुर्थ सर्ग कथा :

चतुर्थ सर्ग में मुख्य रूप से विरहविवशा राजीमती द्वारा पतिविरहिता स्त्री की दशाओं का सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम राजीमती श्रीनेमि के दान की महिमा व प्रशंसा करती है।[5] तत्पश्चात् एक वर्ष पूर्ण होने पर शरद् ऋतु में सर्वाङ्गविभूषित श्रीनेमि को राजीमती ने गवाक्ष से वनकानन जाते हुए इस प्रकार देखा जैसे कमलिनी जल से जानेवाले रवि को देखती है।[6] अपने प्रभु श्रीनेमि को अपने सामने ही वन जाते देख राजीमती प्रबल व विषम विरह पीडा से मूर्च्छित हो हो रही थी कि सखियों ने शीतोपचार द्वारा उसे सचेत किया। तदनन्तर "अब मैं उनके द्वारा कीचड़ से गीले व गन्दे हुए वस्त्र की भाँति त्याग दी गयी हूँ" इस विचार से अपार शोकपूरित हो, वह शोकजलपूर्ण-कुम्भ की भाँति हो गयी।[7]

अपने स्वामी के जगज्जीवातु दर्शनों के पान से पुष्ट और अब उच्छ्वास-व्याज से राजोमती का धूमायमान हृदय चूने की तरह फूट-फूट कर चूर्णित हो रहा था।[8] वह अपनी विरहपूर्ण दीनावस्था का मार्मिक वर्णन करती हुई[9], मेघ से अपने हर्षवर्धक उन श्रेष्ठ मुनीन्द्र के पास अपना सन्देश पहुँचाने का अनुरोध करती है।[10] वह कहती है कि जब भगवान् श्रीनेमि शमजन्य सुखरस के पान से चिदानन्दपूर्ण हो, कुछ-कुछ आँखें खोलें, तब तुम उनके चरणों में भ्रमरलीला करते हुए प्रियम्वद व अखिन्न होकर, मृदुवचनों से सन्देश कहना[11] कि जो निष्पापा मैं ईश-द्वारा पहले स्वीकार कर ली

---

१. आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, श्लोक ३।५१-५२। २. वही, ३।५३।
३. वही, ३।५४। ४. वही, ३।५५।
५. वही, ४।१-२। ६. वही, ४।३-४।
७. वही, ४।६। ८. वही, ४।७।
९. वही, ४।८-१०। १०. वही, ४।११।
११. वही, ४।१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाकर स्त्रियों की मुकुटायित बना दी गयी थी, आज वही राजीमती आप द्वारा दूर हटायी जाने पर शोकरूपी क्षार-समुद्र से सङ्गत होने से दुःखी चित्तवाली होकर आप से निवेदन करती है।[१] अन्त में वह अपने स्वामी श्रीनेमि के प्रति अपना विस्तृत सन्देश बतलाती है।[२] अपने उस सुदीर्घ सन्देश में राजीमती श्रीनेमि से ज्यादा जवाब-तलब ही करती है, अपने हृदय का उद्घाटन कम। कवि ने यहाँ पर राजीमती की विरह-व्यथा को अत्युत्तम ढङ्ग से व्यञ्जनापूर्ण शैली में अभिव्यञ्जित किया है। राजीमती की सखियाँ, उसकी विरह-वेदना तथा उसका इस प्रकार का सन्देश-कथन देखकर, उसे बहुत समझाती हैं तथा इसमें सारा दोष मोह का ही बतलाती हैं।[३]

सखियाँ इस महामोह को बोधरूपी शस्त्र से नष्ट कर डालने का परामर्श राजीमती को देती हैं[४] और प्रभु श्रीनेमि की विशेषताओं का वर्णन[५] करती हुई राजीमती को समझाती हैं कि "हे बुद्धिमति! उस वरवर्णिनी को, रङ्गरहित पाषाणखण्डों को रङ्गीन बनाते हुए देखकर यह न विश्वास कर लो कि मैं भी तो वरवर्णिनी हूँ, अतः मैं भी भगवान् श्रीनेमि को रागरञ्जित कर लूँगी, क्योंकि वह पाषाण तो नाम से चूर्ण है, परन्तु ये भगवान् श्रीनेमि वह अकृत्रिम हीरा हैं, जिसे अधिक चटकीले रङ्गों से भी नहीं रङ्गा जा सकता है।"[६] राजीमती सखियों के उक्त वचनों को सुनकर अपने शोक का परित्याग कर देती है और अपने पति के ध्यान से सावधान बुद्धिवाली वह तन्मयत्व (स्वामिमयत्व) प्राप्तकर, केवलज्ञान-प्राप्त अपने प्रभु श्रीनेमि की शरण में जाकर, व्रतग्रहण करके स्वामी के ध्यान से स्वामी की ही तरह रागद्वेषादिरहित होकर, स्वामी के प्रभाव से गिने हुए कुछ ही दिनों में परम आनन्द के सर्वस्व मोक्ष का वरण कर, अनुपम तथा अव्यय सौख्य-लक्ष्मी को प्राप्त कर, शाश्वत-सुख का उपभोग करती है।[७]

इस प्रकार आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि ने अपने इस सन्देशपरक काव्य में निश्चयमेव पाठकों के समक्ष एक ऐसा अति गूढ़ विशिष्ट सन्देश दिया है, जिसमें त्याग-प्रधान जीवन के प्रति एक दिव्य ज्योति प्रकाशित मिलती है। शृङ्गारपरक इस काव्य का शान्त रस में पर्यवसान कर तथा श्रीनेमि जैसे महापुरुष को इस काव्य का नायक बनाकर आचार्य मेरुतुङ्ग ने पाठकों के सम्मुख शान्तरस का जैसा आदर्श प्रस्तुत किया है, वैसे आदर्शपूर्ण सत्साहित्य से ही संसार में विश्वप्रेम की भावना उद्भूत हो सकती है। यह शान्त रस ही तृष्णाओं का क्षय करता है, मनुष्य को मानव-धर्म की स्मृति कराता है और मानव-हृदय में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की भावना उद्भूत करता है।

— शोध सहायक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

---

१. आचार्य मेरुतुङ्ग : जैनमेघदूतम्, श्लोक ४।१४। २. वही, ४।१५-३६।
३. वही, ४।३८। ४. वही, ४।३९।
५. वही, ४।४०। ६. वही, ४।४१।
७. वही, ४।४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. जैन धर्म—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा (उ. प्र.); पञ्चम संस्करण; सन् १९७५ ।

२. अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन—श्रीपार्श्व; प्रकाशक—श्री मुमुक्षु अञ्चलगच्छ जैन समाज, गोविन्द कुञ्ज, नेहरू रोड, मुलुण्ड, बम्बई-८०; प्रथम संस्करण; सन् १९६८ ।

३. श्रीपट्टावलीपरागसङ्ग्रह—पं० कल्याणविजयगणि; प्रकाशक—श्री० क० वि० शास्त्रसङ्ग्रह समिति, शा० मुनिलाल जी थानमल जी, श्रीजालोर (राज०); प्रथम संस्करण; सन् १९६६ ।

४. प्रबन्धचिन्तामणि—आचार्य मेरुतुङ्ग (प्रथम); प्रकाशक—सिन्धी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति निकेतन (बङ्गाल); प्रथम संस्करण; सन् १९३३ ।

५. जैनमेघदूतम्—आचार्य मेरुतुङ्ग; सम्पादक - श्रीचतुरविजयमुनि; प्रकाशक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर; प्रथम संस्करण; सन् १९२४ ।

६. महाकवि कालिदासकृत मेघदूत और जैनकवि मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूत का साहित्यिक अध्ययन—लेखक का पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध; उपलब्ध - पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी-५ ।

७. संस्कृत के सन्देश-काव्य—डा० रामकुमार आचार्य; प्रकाशक—डा० रामकुमार आचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय कालेज, अजमेर; प्रथम संस्करण; सन् १९६३ ।

८. संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६; प्रथम संस्करण; सन् १९७१ ।

९. श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति ग्रन्थ—(सम्पादक) मुनि श्रीकलाप्रभसागर जी, बम्बई ।

१०. The Indian Sect of the Jainas—J. G. Buhler; Publisher—Luzac of Co, 46, Great Russell Street, London; 1903.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org